© 2018 IJSRSET | Volume 4 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Engineering and Technology

आयुर्वेद में सत्कार्यवाद की उपयोगिता

अशोक कुमार वर्मा
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

मनुष्य स्वभाव से भी मननशील प्राणी है। अतः मानवीय विचारों की प्रक्रिया उतनी ही पुरानी है, जितनी सृष्टि। स्वभाव के अतिरिक्त मानव की परिस्थितियाँ एवं उसके चारों ओर का वातावरण भी उसको कुछ न कुछ सोचने के लिए सदैव प्रेरित करते रहते हैं। सोंचने और मनन करने का यह क्रम जाति एवं व्यक्ति दोनों में ही चलता रहता है। इसी के फलस्वरूप दोनों ही आगे बढ़ते हैं। मानवीय संस्कृति और सभ्यता के विकास का यही रहस्य है। पर सर्वानुभूत बात है कि आरम्भ के विचार अपरिपक्व रहते हैं, नये अनुभवों से मनुष्य के विचारों को नई दिशा प्राप्त होती है, उसका विकास होता है और उसमें क्रमशः परिपक्वता आती जाती है। थोड़ा परिपक्व होने पर ही वे वचनों द्वारा प्रकाशित किए जाने योग्य होते हैं। मन में उठते विचार इतने स्फुटित नहीं हो जाते कि वचनों द्वारा प्रकाशित किए जा सकें। फिर कालान्तर में और अधिक परिपक्व होकर व्यवस्थित हो जाने पर लेखबद्ध होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः किसी भी देश, समाज या जाति की ग्रन्थ–सम्पत्ति उसकी शताब्दियों की विचार–साधना का सत्फल होने के कारण आरम्भिक विचारों के बहुत बाद उदित होती है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में चिन्तन और विचार परवर्ती काल में साँख्य, योग, न्याय, वेदान्त इत्यादि नामों से व्यवहृत होने वाली विशिष्ट विचार–प्रणालियों के व्यवस्थित रूप धारण करने के अनेक शताब्दियों पूर्व ही आरम्भ हो गये थे और बीच की शताब्दियों में भी अनवरत रूप से चलते रहे।

आरम्भिक उपनिषद्–साहित्य इन्हीं पूर्व विचारों का लेखबद्ध रूप है एवं इसी से परवर्ती दर्शन–शास्त्र सूत्र रूप में व्यवस्थित हुए। इस साहित्य में परवर्ती दर्शन–शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त बीज रूप में यत्र–तत्र बिखरे पड़े हैं। साँख्य–शास्त्र न केवल इस नियम का अपवाद है, अपितु इसके मूल तत्त्व तो बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद् जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में भी सूक्ष्म रूप से मिलते हैं। जैसे पुरुष केवल साक्षी या द्रष्टा है

कर्ता नहीं – इत्यादि भाव बृहदारण्यक की **'असंगों ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवक्ल्य'**[1] इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इसी प्रकार सांख्य का सत्कार्यवाद छान्दोग्योपनिषद् की **'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र असीदेकमेवाद्वितीयम्'**[2] इत्यादि पंक्तियों में तथा उसके सत्त्व, रजस् और तमस् गुण **'यदग्ने रोहितं रूपं, तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य'**[3] इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इनकी तो बात ही क्या, ऋग्वेद इत्यादि में भी सांख्य के पदार्थों की झलक मिलती है। जैसे – **'तम आसीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेत'**[4] में सांख्य के सभी अव्यक्त का संकेत मिलता है। इस सबसे यह तो अवश्य स्पष्ट होता है कि विकसित तथा व्यवस्थित सांख्य–दर्शन की पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार जिनसे उनका भावी स्वरूप निर्धारित हुआ, अत्यन्त प्राचीन हैं, परन्तु इससे यह कदापि स्पष्ट नहीं होता कि ये प्रचीनतम उपनिषद् किसी प्रकार के सांख्य–शास्त्र से परिचित हैं। इनके बाद के कठ और श्वेताश्तरोपनिषद् में तो सांख्य के बुद्धि, अव्यक्त तथा पुरुष इत्यादि तत्त्व न केवल स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं, उनकी आनुक्रमिक सूक्ष्मता भी वर्णित है।[5] श्वेताश्वतर का तो कहना ही क्या? यह तो सांख्य–उपनिषद् माना ही जाता है। साँख्य[6] और कपिल[7] नाम इसमें पहली ही बार आए हैं। इसी प्रकार व्यक्त–अव्यक्त और ज्ञ ये तीनों भी इसी उपनिषद् में मिलते हैं।[8] प्रधान और गुण शब्द भी इनमें मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रसिद्ध मन्त्र **'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'** में अव्यक्त या प्रधान का 'प्रकृति' नाम भी आया हुआ है।

साँख्य–दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार साँख्य–दर्शन कार्य और कारण में कोई भेद नहीं स्वीकार करता है। कार्य और कारण में जो भेद दिखाई पड़ता है, वह केवल व्यावहारिक है। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है, क्योंकि साँख्य–दर्शन के मतानुसार जो उत्पन्न होता है, उसका अस्तित्व उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान रहता है। यदि उत्पद्यमान कार्य का अस्तित्व उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान न होता तो उससे कार्य की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। कार्य केवल कारण की व्यक्तावस्था है तथा कारण केवल कार्य की अव्यक्तावस्था है। अतः कार्य एवं कारण अथवा परिणाम इसी सिद्धान्त के द्योतक नामान्तर मात्र हैं। साँख्य–दर्शन अपने उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिपादन में निम्न कारण एवं युक्तियाँ प्रस्तुत करता है–

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।।[9]

अर्थात् असत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उपादान ग्रहण (सत् कारण) से ही सत्कार्य की उत्पत्ति होती है। समस्त प्रकार के कारणों से सभी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

शक्तिभाव कारण से शक्य की उत्पत्ति होती है। अतः कारण की सत्ता होने से सत्कार्य होता है, अर्थात् कार्य का अस्तित्व प्रकाश में आता है। सत्कार्यवाद को परिणामवाद कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त चराचर जगत् प्रकृति का ही परिणाम है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि एक ही प्रकृति नाना रूप जगत् को कैसे उत्पन्न करती है? इसका समाधान यह है कि मूल कारण प्रकृति सत्त्व, रज, तम्, आदि त्रिगुण के कारण सृष्टि और प्रलय और वैषम्यावस्था सृष्टि के कारण हैं। चूँकि गुण परिणामशील होते हैं अतः क्षणमात्र भी बिना परिणाम स्थिर नहीं रह सकते। प्रलयावस्था में गुण विसदृश परिणाम को छोड़कर सदृश परिणाम वाले हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के सम्पादन में सत्त्व–सत्त्व रूप से, रज–रज रूप से और तम–तम रूप से प्रवृत्त होता है। इसी से इन गुणों की साम्यावस्था होती है और यही जगत् का प्रलय है। सृष्टि काल में यही गुण सदृश परिणाम को छोड़कर अलग विसदृश परिणाम वाले होते हुए महत् आदि को उत्पन्न करते हैं, परन्तु प्रकृति के सर्ग रूप में प्रवृत्त होने पर वे गुण प्रधान आदि नानाभावों से मिलकर प्रवृत्त होते हैं। जिस तरह बादल से उन्मुक्त जल एक रस वाला होता हुआ भी विभिन्न भूविकारों को प्राप्त कर नारिकेल आदि के रस के रूप में परिणत होता हुआ मधुर, अम्ल एवं लवणादि षड्भावों को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम त्रिगुण के नाना रूप विशेषता का आश्रय कर प्रकृति से अनेक प्रकार के परिणाम वाले हो जाते हैं–

कारणमस्त्यव्यक्तम्, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।।[10]

आयुर्वेद में महर्षि चरक द्वारा भी रसों की अभिव्यक्ति में ऐसा ही दृष्टान्त दिया गया है। यथा अंतरिक्ष से उत्पन्न जल सौम्य होता है, उसकी प्रकृति शीतल, लघु एवं अव्यक्त रस की होती है। यही जल पृथ्वी पर गिरकर प¥चमहाभूतों के गुणों से युक्त होकर जंगम स्थावर प्राणियों को तृप्त करता है और षड्रसों की अभिव्यक्ति हो जाती है। महर्षि चरक ने कहा है–

''तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः पृथिव्यभिभूयिष्ठत्वादम्लः सलिलाभिभूयिष्ठत्वाल्लवणः वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुकः वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः पवनपृथिवीव्यतिरेकात्कषाय इति।''

प¥चमहाभूतों के न्यूनाधिक संगठन से मधुराम्ल लवणादि रसों की उत्पत्ति होती है।[11] साँख्य के समान ही आयुर्वेद में भी परिणामवाद का प्रचुर प्रयोग मिलता है। चरक का कथन है कि स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करना चाहिए जिससे रोग उत्पन्न होने न पाये। सुखाभिलाषी को चाहिए कि जो अनुत्पन्न व्याधि है, उसे

उत्पन्न न होने दें और जो उत्पन्न हो गयी है, उसके शमन के लिए शास्त्रविहित विधियों का पालन करना चाहिए।

अजातानामनुत्पत्तौ जातानां विनिवृत्तये।
रोगाणां यो विधिर्दृष्टः सुखार्थी तं समाचरेत्।।[12]

समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति सुख के लिए होती है, परन्तु जो व्यक्ति ज्ञानपूर्वक कार्य करता है, वह सुखकर मार्ग में प्रवृत्त होता है एवं जो अज्ञानपूर्वक कार्य करते हैं, वे दुःखकर मार्ग में प्रवृत्त होने के कारण दुःखभागी होते हैं–

सुखार्थं सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
ज्ञानाज्ञानविशेषात्तु मार्गामार्गप्रवृत्तयः।।[13]

यह सब यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। परीक्षक में यथार्थ ज्ञान के लिए निम्नांकित गुण आवश्यक है। शास्त्र का अभ्यास, बुद्धि, स्मरण शक्ति, कार्य दक्षता, धारणा शक्ति, हितकर वस्तुओं का सेवन, वाणी की शुद्धता, शान्ति, धैर्य, रज और तम से व्याप्त लौकिक पुरुषों में ये गुण नहीं पाये जाते हैं। इन्हीं रज और मोह के कारण मनुष्य विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से आक्रान्त होता है। स्वास्थ्यसंपादन के लिए अनेक उपायों का अवलम्बन आयुर्वेद में वर्णित है। उनके उल्लंघन से अनेक दुष्परिणाम अस्वास्थ्य दुःख के रूप में वर्णित हैं। ऐसी स्थिति में सत्कार्यवाद ही स्वास्थ्य लाभ आदि एवं उससे उत्पन्न विकारों के संयोग का अनित्यत्व घोषित कर धैर्य रखने का निर्देश करता है। हेतु की विषमता से शरीर की धातुएँ विषम एवं हेतु के साम्य से साम्यावस्था को स्वतः प्राप्त होती रहती हैं–

जायन्ते हेतुवैषम्यात् विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात् समास्तेषांस्वभावोपरमः सदा।।[14]

सत्कार्यवाद या परिणामवाद कारण और कार्य के अभेद को बतलाता हुआ हेतु, लिंग एवम् औषध रूप आयुर्वेद के चिकित्सकों में सामंजस्य प्रस्तुत करता हुआ चिकित्सकों में अभ्रान्त ज्ञान को उत्पन्न कर महान उपकार करता है। जैसे दुष्ट दोष ही धातुओं को दूषित कर रोग रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार यह हेतु और लक्षण का सामान्य रूप से विकार निर्णय में पथ–प्रदर्शन करता है। जिस प्रकार व्याधि–विकास, रूजा, वर्ण, समुत्थान, स्थान, संस्थान एवं नाम आदि भेद से असंख्य प्रकार की हो जाती है–

त एवापरिसंख्येयां भिद्यमानमाना भवन्ति हि। रुजावर्ण समुत्थानस्थानसंस्थाननामभिर्व्यपस्थकारणं तेषां यथास्थूलेषु सग्रहः तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषुपदिश्यते।[15]

सम्पूर्ण निज विकार वात, पित्त, कफ आदि से भिन्न नहीं होते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति उन विकारों को तदात्मक ही मानते हैं। इस प्रकार के अनेक स्थलों में ''दोषा एवं परिणामविशेषा रोगा'' अर्थात् दोष ही परिणाम की विशेषता के कारण रोग कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त आहार के परिणाम से ही शरीर की धातुएँ उत्पन्न होती हैं। स्त्रोतस् ही परिणाम को प्राप्त धातुओं का अभिवहन करते हैं।

स्त्रोतांसिखलुपरिणाममांपद्यमानानां, धातूनामभिवाहिनिभवन्त्ययनार्थेन।[16]

यदि कार्य वस्तुतः कारण में अविद्यमान रहता है तो किसी भी प्रयत्न से उसका आविर्भाव नहीं हो सकता, परन्तु कारण को गर्भ के आत्मजभावत्व के प्रसंग में चरक ने कहा है कि विद्यमान (सत्) वस्तु का अवस्थान्तरप्राप्ति मात्र ही जन्म है। साधक युक्ति के समान चरक ने पुनर्जन्म के प्रसंग में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि षड्धातुओं के समुदाय से गर्भ उत्पन्न होता है। कर्ता और संयोग से क्रिया होती है। कृतकर्म का फल होता है। जो कर्म कभी नहीं किया जाता, उसका फल नहीं होता। दूसरे बीज से दूसरे अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मनुष्य बीज से मनुष्य की ही उत्पत्ति है पशु की नहीं, इत्यादि सत्कार्यवाद के तत्त्वभेद के उदाहरण हैं।

सुश्रुत संहिता में भी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं। गर्भनिर्वृत्ति विषयक गोष्ठी में ''सर्वप्रथम किस अंग की उत्पत्ति होती है।'' इस प्रश्न के विचारण में कोई आचार्य किसी अंग को प्रथम अभिनिवृत्त मानता है, परन्तु धन्वन्तरि सभी अंगों की अभिनिवृत्ति एक साथ मानते हैं। उनका कथन है कि गर्भ के समस्त अंग–प्रत्यंग एक साथ ही बनते हैं पर अतिसूक्ष्म होने के कारण उनका ज्ञान नहीं हो पाता है। इस प्रसंग में सुश्रुत ने एक दृष्टान्त भी दिया है, जिस प्रकार बाँस के अंकुर और आम के फल में आमावस्था में उसका विभाग दृष्टिगत नहीं होता है, परन्तु वही कालान्तर में व्यक्त होने पर उसमें तना, पत्ता एवं गुठली व्यक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार गर्भ की तरूणावस्था में उसके अंग दृष्टिगत नहीं होते पर वही समय आने पर व्यक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार के अन्य सन्दर्भ भी आयुर्वेद में आकर ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. बृहदारण्यकोपनिषद् – 4/3/15
2. छान्दोग्योपनिषद् – 6/2/2
3. छान्दोग्योपनिषद् – 6/4/1
4. ऋग्वेद – 10/129/3
5. कठोपनिषद् – 1/3/10–11
6. श्वेताश्वतरोपनिषद् – 6/13 – तत्कारणं साँख्ययोगाधिगम्यम्।।
7. श्वेताश्वतरोपनिषद् – 5/2 – ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानै.र्विथर्ति जायमानं च पश्येत्।।
8. श्वेताश्वतरोपनिषद् . 1/8, 9
9. साँख्य कारिका . 9
10. साँख्य कारिका . 16
11. चरक संहिता 26/39.40
12. चरक संहिता 28/34
13. चरक संहिता 28/35
14. चरक सूत्र 16/27
15. चरक सूत्र 18/42.43
16. चरक विज्ञान . 5